

क्या भारत की अपनी शानदार रणनीति है?
Does India Have a Grand Strategy?

रुद्र चौधरी
Rudra Chaudhuri
January 3, 2011

“उदीयमान भारत” जैसे लोकप्रिय शब्दाडंबर के बावजूद विद्वानों को लगता है कि भारत की अपनी कोई शानदार रणनीति है ही नहीं. कहा जाता है कि संभ्रांत लोग भी “तदर्थवाद” पर ही निर्भर करते हैं. भारत के लिए दिशा-निर्देशों का निर्धारण विदेश-नीति के मामलों से ही होता है. रणनीतिक विचार का अभाव न केवल प्रचारित किया जाता है बल्कि स्पष्ट विदेश नीति न होने के बावजूद उसकी बार-बार पुष्टि भी की जाती है और उस पर गंभीर चर्चा और विचार-विमर्श करके जनता के सामने उसे पेश भी कर दिया जाता है.

गठबंधन, सैनिक शक्ति के उपयोग और ऊर्जा संरक्षण जैसे रणनीतिक महत्व के मामले में यदि भारत की अपनी कोई दृष्टि होती भी है तो भी नौकरशाही के काहिलेपन और सीमित राजनैतिक दिशाबोध के कारण वह भी धूमिल हो जाती है. समन्वय के अभाव में रणनीतिक प्रक्रिया टीकाकारों की आलोचना की शिकार हो जाती है. लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या विचारों और रणनीति के अभाव में भारत 21 वीं सदी में दिशाहीन होकर ऐसे ही भटकता रहेगा?

भारत के लिए शानदार रणनीति का कोई नुस्खा सुझाने के बजाय मैं कुछ मामलों में नीति संबंधी दिशा-निर्देशकों पर ही नज़र दौड़ाना चाहूँगा. खास तौर पर मैं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के उपयोग के बारे में भारत के नज़रिए का विश्लेषण करना चाहूँगा और यह दिखाना चाहूँगा कि किस प्रकार रणनीतिक निर्णय भी निराधार नहीं होते. महत्वपूर्ण और नियामक तत्वों के आधार पर तयशुदा शर्तें ही राजनैतिक संभ्रांत वर्ग की पसंद को रूपायित करती हैं.

पिछले साठ वर्ष की विषम अवधि में दो ही ऐसे मौके आए हैं जब भारतीय नेता गंभीरता से यह सोचने के लिए विवश हुए कि अपने नज़दीकी पड़ोसियों से दूर भी अंतर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप करते हुए सैनिक शक्ति का उपयोग किया जाना चाहिए: 1950 के आरंभिक दशक में कोरियाई युद्ध और 2003 में ईराक युद्ध. इन दोनों ही मामलों में अपनाए गए नज़रिए में जो परिवर्तन और तनाव दिखाई पड़ा, उससे यह स्पष्ट होता है कि इस प्रकार के नीति संबंधी निर्णयों को रूपायित करने में निर्धारक तत्व कौन-से हैं.

कोरियाई युद्ध: शीतयुद्ध कालीन शानदार रणनीति

भारत के आरंभिक रणनीतिक व्यवहार से जुड़े अधिकांश कागज़-मत्रों को देखने से पता चलता है कि गुटनिरपेक्षवाद के धुंधले नुस्खों के आलोक में ही भारत का संभ्रांत वर्ग अंतर्राष्ट्रीय महत्व के मामलों को चिह्नित करने और उन्हें निपटाने के लिए अंधाधुंध निर्णय किया करता था. गुटनिरपेक्षवाद एक ऐसी वैचारिक परियोजना थी जो न केवल अपने-आप में उलझी हुई थी, बल्कि स्वयं प्रधानमंत्री भी इस आदर्शवादी कल्पना

के घटाटोप में खोए रहते थे. इस रणनीति की विवादात्मक कुशलता को कभी आजमाया नहीं जा सका परंतु इस लोकप्रिय शब्दांडंबर के बावजूद भारतीय नेताओं के बीच युद्ध को लेकर विचार-मंथन शुरू हो गया है.

यद्यपि भारत ने उत्तर कोरिया के हमले की निंदा करने से संबंधित संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव का समर्थन तो किया, लेकिन तीन कारणों से अपने सैनिक न भेजने का निर्णय किया, सबसे पहला कारण तो यही था कि साम्राज्यवादी शासन की यादों के कारण इसके महत्व और प्रभाव से भारत परिचित था किसी भी नए स्वतंत्र राष्ट्र को यह कतई गवारा नहीं होता कि दो गुटों में विभाजित गुटों में से किसी एक गुट के पक्ष में खास तौर पर अमरीका जैसे सक्रिय खिलाड़ी के नेतृत्व वाले गुट में शामिल होकर अंतर्राष्ट्रीय विवाद में उलझा जाए यद्यपि संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद ने इसे प्राधिकृत किया था, फिर भी इस हस्तक्षेप के पीछे यह तथ्य भी छिपा था कि एक समय इसका नेतृत्व अमरीका ने उस समय किया था, जब संयुक्त राष्ट्र मात्र प्रमुख राष्ट्रों की अभिनेता की भूमिका का ही निर्वाह कर रहा था. दुनिया की नज़र में यह अमरीका के नेतृत्व में चलने वाला मिशन ही था.

दूसरा कारण यह था कि भारत के उदीयमान रणनीतिक नज़रिए के नियामक दबाव को वास्तविक राजनीतिक चिंताओं से भी बल मिला. डुमेन प्रशासन से समग्र रूप में अप्रभावित रहते हुए नेहरू इस बात को लेकर चौकन्ने थे कि किसी ऐसे मिशन में हम अपने सैनिकों को न भेजें जिससे दक्षिण एशिया के पास से परे उन्हें जाना पड़े. ऐसी स्थिति में सोवियत संघ क्या करेगा? सबसे ज़रूरी बात तो यह है कि अगर चीन इस युद्ध में हस्तक्षेप करता है तो उसका चीन-भारत संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ेगा. भारत ऐसा कोई जोखिम मोल नहीं ले सकता था जिससे नवोदित साम्यवादी चीन को विशेषकर पाकिस्तान के पश्चिम में अस्थिर स्थिति होने के कारण युद्ध छेड़ने का मौका मिल जाए. इसलिए गंभीरता से विचार करते हुए और रणनीतिक वास्तविकताओं को देखते हुए संकट की इस स्थिति में भारत संभलकर धीरे चलने के लिए विवश हो गया. इसके अलावा हम पाकिस्तान की तरह भी कोई कार्रवाई नहीं कर सकते थे, जिसने कम से कम शब्दों में तो कोरियाई प्रयास का समर्थन किया था और फिर वाशिंगटन के साथ उनके गुट में शामिल होने जैसे संबंध बनाने की पेशकश भी कर डाली थी. नेहरू इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि गुट में शामिल होने से सशक्त भूमिका वाले देश के प्रति उनकी निर्भरता बढ़ जाएगी. विविधीकरण की रणनीति का प्रबंधन करने पर निर्भरता की स्थिति आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर देश के हित में हो सकती है.

तीसरा कारण यह था कि भारत का संभ्रांत वर्ग इस बात को लेकर चिंतित था कि युद्ध में भाग लेने से उसका प्रभाव पूर्वी गोलार्ध में उसकी प्रतिष्ठा पर भी पड़ सकता था. उस समय तक चीन संयुक्त राष्ट्र का सदस्य भी नहीं था. चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एल लाई ने तो अमरीका को धमकी भी दे दी थी कि यदि उन्होंने यल्लु नदी को पार किया तो युद्ध और इलाकों में भी फैल सकता है. यह बात दूसरी है कि पश्चिम ने इस धमकी की अनदेखी कर दी, लेकिन इसके लिए चीन को दोषी नहीं माना जा सकता था. नियम-आधारित समाज के लिए आवश्यक था कि वह पश्चिमी देशों की तरह ही पूर्व के देशों का भी सम्मान करे. भारत गुट में शामिल नहीं हुआ, क्योंकि वह अपने हित में निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र था.

2003 ईराक युद्ध: भारत की शानदार रणनीति

अमरीकी प्रशासन का यह विचार कि भारतीय सेना गठबंधन सेना में स्वेच्छा से शामिल होगी, शुरू से ही समझ से बाहर था. भारत का संभ्रांत वर्ग, जिसे अक्सर अंदर से गुट निरपेक्षवाद के बौद्धिक ऊहापोह का आलोचक माना जाता था, आखिर क्यों एक ऐसे विवादास्पद युद्ध में भारतीय सैनिकों को भेजने पर विचार करेगा जिसके पक्ष में सुरक्षा परिषद के पाँच स्थायी सदस्यों में से केवल तीन सदस्यों ने ही मतदान किया था? यह सही है कि जुलाई, 2003 में ही प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में आयोजित भारतीय सुरक्षा मंत्रिमंडलीय समिति, जो नीति संबंधी निर्णय करने वाली सर्वोच्च समिति है, की बैठक में यह निर्णय ले लिया गया था कि भारत इस युद्ध में अपने सैनिक नहीं भेजेगा. इससे यह संकेत मिलता है कि गुट निरपेक्षता भारत की विदेश नीति का हमेशा ही केंद्रबिंदु बना रहा है.

कहा जाता है कि भाजपा-नीत सरकार को इस निर्णय तक पहुँचने में पाँच महीने लग गए थे. वे इस युद्ध की “निंदा” ही नहीं, “भर्त्सना” भी नहीं करना चाहते थे. इतना ही नहीं, वे इस बीच भारत आने वाले उच्चस्तरीय अमरीकी अधिकारियों के सेवा-सत्कार में भी लगे रहे. इससे पता चलता है कि यह मामला इतनी आसानी से नहीं सुलझा था. वस्तुतः पर्दे के पीछे गठबंधन सेना में शामिल होने के विकल्पों पर विचार किया गया था. अमरीकी और भारतीय राजनयिक इस बात से आश्वस्त थे कि बजाय अकड़ने के भारत सरकार ने कम से कम इस पर गंभीरता से विचार तो किया.

कोरियाई युद्ध की तरह ही तीन तर्कों के आलोक में भारत ने अंततः निर्णय किया और इससे यह पता चलता है कि पुराने और नए विचारों की व्यवहारमूलक प्रवृत्ति और तनाव क्या थे. अधिकांश रणनीतिक सलाहकारों और टीकाकारों का यह मानना था कि यह भारत के लिए स्वर्णिम अवसर था. गठबंधन सेना में शामिल होने से न केवल उसे तथाकथित महाशक्ति का दर्जा मिल जाता, बल्कि भारत को विश्व के सबसे बड़े ऊर्जा-बाज़ार में प्रवेश मिल जाता और वाशिंगटन के साथ शीत युद्ध का गतिरोध समाप्त हो जाता.

वैसे तो अमरीका के नेतृत्व वाली गठबंधन सेना में शामिल होने के प्रस्ताव को आकर्षक भी नहीं माना जा सकता था. निर्भरता के प्रबंधन की बात राजनैतिक संभ्रांत वर्ग के मन में ज़रूर थी. वस्तुतः ईराक युद्ध पर बहस के दौरान भारत के प्रधान मंत्री ने खुलकर कहा था कि “भारत कभी भी विश्व की सबसे बड़ी महाशक्ति का सहायक नहीं बनेगा.” गठबंधन सेना में भारतीय सेना को शामिल करने का समर्थन करने वाले राजनयिक और मंत्रिमंडल के सदस्य भी अंतर्राष्ट्रीय गठबंधन में शामिल होने की उत्कंठा के बावजूद इस तथ्य से अनजान नहीं थे कि भारतीय सैनिक टुकड़ी को अनिवार्यतः अमरीकी कमांडरों के मातहत ही काम करना होगा. वे भी नहीं चाहते थे कि भारतीय सेना के अधिकारी अमरीकी अधिकारियों को सैल्यूट करें. हस्तक्षेप और गठबंधन सेना में शामिल होने को लेकर भारत के नज़रिए में जो बौद्धिक ऊहापोह थी, वह साफ़ दिखाई देती थी.

साथ ही, भारत का संभ्रांत वर्ग यह भी बखूबी समझता था कि प्रगति और विकास के मार्ग पर चलने के लिए अमरीकी प्रशासन के साथ कदम से कम मिलाकर चलना भी आवश्यक है. प्रौद्योगिकीय अंतरण पर लगे प्रतिबंध के हटने से और भारत को परमाणुशक्ति संपन्न देश का दर्जा विधिवत् मिल जाने से यह बात और भी साफ़ हो गई है. ईराक-हस्तक्षेप के मामले में असहमति के बावजूद इन महत्वपूर्ण चिंताओं को खिसकाकर एक तरफ़ नहीं किया गया. इसलिए एक प्रकार का तथाकथित “मध्यम मार्ग” अपनाया गया था, जिसके

अंतर्गत भारत के लिए इंकार करने की गुंजाइश भी बनी रही और साथ ही बुश प्रशासन के साथ संबंधों में मज़बूती भी आई.

प्रतिष्ठा का प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नहीं था. संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य-देशों द्वारा अमरीका के नेतृत्व में चलाए जाने वाले मिशन के समर्थन को प्राधिकृत करने और स्पष्ट रूप में शांतिवाहिनी सेना में शामिल होने की अपील के लिए रखे गए संयुक्त राष्ट्रसंघ के भड़काऊ प्रस्ताव सं. 1483 की परिधि को बढ़ाने के अमरीकी प्रयास की विफलता के कारण उन देशों पर भी बहुत बुरा असर पड़ा, जिन्होंने हस्तक्षेप का समर्थन किया था. युद्ध की कानूनी पेचदगियों से संबंधित चिंताओं के अलावा राजनयिक इस बात को लेकर भी चिंतित थे कि गठबंधन सेना में भारतीय सेना के शामिल होने को लेकर मध्य पूर्व के देशों की क्या प्रतिक्रिया होगी.

संक्षेप में, ईराक के मामले में निरंतरता और परिवर्तन दोनों ही बातें दिखाई पड़ीं. भारत कम से कम सेना भेजने जैसे कठोर मामले पर विचार करने के लिए इच्छुक तो दिखाई पड़ा. वस्तुतः इस प्रयास से यह तो लगा कि भारत शानदार रणनीति की तरफ बढ़ रहा है. वह न तो गुट निरपेक्षता के कठोर जाल में फँसा है और न ही तदर्थवाद के धूमिल नुस्खे को अपनाने के लिए विवश है. इसके बजाय भारत निर्भरता को प्रबंधित करने की रणनीति बना रहा है जिसमें महाशक्तियों का साथ निभाने के लिए आवश्यक संतुलन भी है और अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल भी है.

रुद्र चौधरी किंग्स कॉलेज, लंदन में युद्ध अध्ययन विभाग में लेक्चरर हैं.

*हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@hotmail.com>*